जैन एवं बौद्ध धर्म
[JAIN AND BUDDHA RELIGION]

जैन धर्म
[JAIN RELIGION]

ई. पू. छठी शताब्दी की धार्मिक क्रान्ति में जैन धर्म ने विशेष योग दिया। वह तत्कालीन धर्मों में एक प्रमुख स्थान रखता है जिन्होंने भारत के धार्मिक जीवन पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। यद्यपि बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म कभी भी देशव्यापी धर्म न बन सका, फिर भी यह महत्त्वपूर्ण बात है कि वह अपनी जन्मभूमि भारत में बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक चिरस्थायी हुआ। आज बौद्ध धर्म भारत में लुप्तप्रायः हो गया है, परन्तु जैन धर्म के अनुयायी यहाँ काफी संख्या में पाये जाते हैं। देश में स्थान-स्थान पर उनके मन्दिर हैं।

जैन धर्म ईसा पूर्व छठी शताब्दी से पूर्व की देन है। उसका इतिहास बहुत प्राचीन है। कुछ विद्वानों का मत है कि जैन धर्म पूर्वैतिहासिक है। कतिपय कुछ विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद में कुछ जैन तीर्थंकरों के नाम मिलते हैं। यजुर्वेद के अनुसार ऋषभदेव धर्म-प्रवर्तकों में श्रेष्ठ हैं। अन्यत्र स्वयंभू काश्यप का वर्णन है और कुछ विद्वानों ने उनकी पहचान ऋषभदेव से की है। यद्यपि पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इन्हें जैन तीर्थंकर स्वीकार करना कठिन है फिर भी यह सम्भव है कि जैन धर्म के बीज महावीर स्वामी से बहुत पहले बोये जा चुके थे। यद्यपि जैन धर्म के संस्थापक महावीर नहीं थे तथापि इस धर्म को पल्लवित करने का श्रेय महावीर स्वामी को है।

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता निश्चित है। वे महावीर से लगभग 250 वर्ष पूर्व काशी के नागवंशी राजा अश्वसेन की रानी वामा के पुत्र थे। उन्होंने तप और तुष्टि के लिए 30 वर्ष की आयु में राजकीय विलासमय पारिवारिक जीवन त्यागकर संन्यास ले लिया। कठिन साधना के बाद उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। 70 वर्ष की आयु तक वे धर्म प्रचार करते रहे। 100 वर्ष की आयु में इनकी मृत्यु हुई।

जैन साहित्य पार्श्वनाथ के कुछ सिद्धान्तों पर प्रकाश डालता है। वे ब्राह्मणों के देववाद और यज्ञवाद के विरोधी थे। वे जाति-व्यवस्था के भी विरोधी थे। सामाजिक दृष्टि से उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य प्राचीन और रूढ़ मान्यता का खण्डन कर, शूद्रों और स्त्रियों को भी मोक्ष का अधिकारी मानना था। पार्श्वनाथ ने अपने भिक्षुओं के लिए मुख्य चार, चतुर्व्रतों की व्यवस्था की थी—

1. अहिंसा,
2. सत्य बोलना,

3. अस्तेय (चोरी न करना)
4. अपरिग्रह (सम्पत्ति का त्याग)।

महावीर स्वामी

यह स्मरणीय है कि महावीर स्वामी जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे। जैन धर्म उनके जन्म के पूर्व भलीभाँति संगठित था। उसकी अपनी व्यवस्था थी। उनके जीवन-यापन की एक निश्चित प्रणाली आविर्भूत हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में महावीर स्वामी को जैनधर्म के सुधारक के रूप में ही स्वीकार कर सकते हैं।

प्राचीनकाल में उत्तरी बिहार में एक वज्जि संघ था। इसमें आठ गणतन्त्रात्मक राज्य सम्मिलित थे। इसकी राजधानी वैशाली थी। वैशाली के पास कुण्डग्राम के राजा सिद्धार्थ थे। सिद्धार्थ के सबसे छोटे पुत्र का नाम वर्धमान था जो आगे चलकर महावीर के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंने 30 वर्ष की आयु तक गृहस्थ जीवन व्यतीत किया। माता के निधन के बाद उन्होंने अपने अग्रज नन्दिवर्धन से अनुमति लेकर संसार त्याग दिया और भिक्षु बन गये और शेष जीवन ई. पू. 587 में मृत्यु तक, जैन धर्म के प्रचार में लगे रहे।

स्वामी महावीर के सिद्धान्त

महावीर ने जिन सिद्धान्तों का प्रचार किया था अन्ततः वे ही जैन धर्म के सिद्धान्त माने जाने लगे। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं:

(1) **निवृत्ति मार्ग**—बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म भी निवृत्तिमार्गी है। संसार के समस्त सुख दुःखदायक हैं तथा व्याधिस्वरूप हैं। मानव जरा और मृत्यु से पीड़ित है। गृहस्थ जीवन में भी सुख-शान्ति नहीं है। संसार में मनुष्य आजीवन तृष्णा से घिरा तथा असन्तोषी रहता है। अधिक प्राप्ति तथा अधिक सम्पत्ति के साथ-साथ इच्छाओं में वृद्धि होती है। ये काम-भोग विष के समान हैं और इनका परिणाम दुःख से परिपूर्ण होता है। मानव शरीर क्षणभंगुर है। मुख्य समस्या दुःख और दुःख का निरोध है। इससे छुटकारा पाने का मार्ग संसार के त्याग में ही आनन्द है। अतः मनुष्य को सांसारिक सुख तथा संसार से विमुख होकर भिक्षु बन जाना चाहिए। जैन धर्म मूलतः भिक्षु धर्म ही है।

(2) **कर्मवाद और पुनर्जन्म**—जैन धर्म अनीश्वरवादी है। ईश्वर विश्व का सृष्टा एवं नियता नहीं है वरन् मनुष्य स्वयं अपना भाग्यविधाता है। वह अपने कर्म के लिए स्वयं उत्तरदायी है। उसे अपने अच्छे-बुरे कर्मों का फल स्वयं भोगना पड़ता है। कर्म ही मृत्यु का कारण है। मनुष्य अपने जिन कुटुम्बियों के लिए कर्म करता है, वे तो उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति के स्वामी बन बैठते हैं। मनुष्य जिन कर्मों से बँधा हुआ है वे आठ प्रकार के हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु-कर्म, नाम-कर्म, गोत्र-कर्म एवं अर्न्तराय कर्म। किये हुए कर्मों का फल भोगे बिना जीव को छुटकारा नहीं मिलता। अस्तु कर्म ही पुनर्जन्म का कारण है। कर्म-फल से विमुक्ति ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है।

कर्म के बन्धनों का अन्त करने के लिए अथवा मोक्ष प्राप्त करने के लिए महावीर स्वामी ने तीन साधन बतलाये हैं। जैन धर्म में इन्हें त्रिरत्न कहा है। ये तीन रत्न हैं—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् आचरण।

(3) **अनेकात्मकवाद**—जैन धर्म के अनुसार जिस प्रकार जीव भिन्न-भिन्न होते हैं उसी प्रकार उनमें आत्माएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। इस प्रकार जैन धर्म सभी प्राणियों में एक ही आत्मा

को नहीं मानता। उसके अनुसार यदि सभी चीजों में एक ही आत्मा होती तो वे एक-दूसरे से पृथक् रूप में न पहचाने जा सकते और न ही उनकी भिन्न-भिन्न गतिविधि होती। अतः वह एकात्मवाद के स्थान पर अनेकात्मवाद का प्रतिपादन करता है। उसके अनुसार प्राणियों में ही नहीं, अपितु जड़ वस्तुओं में भी आत्मा होती है, किन्तु प्रत्येक प्राणी और वस्तु की आत्मा भिन्न-भिन्न होती है और उसमें चेतना भी न्यूनाधिक मात्रा में भिन्न होती है।

(4) **मोक्ष या निर्वाण**—मोक्ष प्राप्त करना जैन धर्म का चरम उद्देश्य है। प्रत्येक प्राणी या जन्तु के दो अंश होते हैं—भौतिक अंश तथा आत्मिक अंश। भौतिक अंश अशुद्ध, अन्धकारयुक्त एवं नाशवान होता है और आत्मिक अंश विशुद्ध, प्रकाशवान एवं अनश्वर है। जीव के भौतिक अंश का नाश कर दिया जाये तो आत्मा का प्रकाश दिखायी देने लगेगा। इस प्रकार का दर्शन ही निर्वाण है। यह भौतिक अंश के विनाश के बाद पूर्ण विशुद्धि, प्रकाश, अनश्वरता, अनन्तता और असीमता की आनन्दपूर्ण स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त करके मनुष्य को पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता और वह आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है।

(5) **स्याद्वाद**—जैन धर्म के अनुसार ज्ञान दुर्बोध है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखे जाने के कारण प्रत्येक ज्ञान भी भिन्न-भिन्न हो सकता है। ज्ञान की यह विभिन्नता सात प्रकार की हो सकती है ; "है; नही है; है और नहीं है; कहा नहीं जा सकता है किन्तु कहा नहीं जा सकता; नहीं है और कहा नहीं जा सकता; है, नहीं है और कहा नहीं जा सकता।" अपनी इस अनिश्चितता के कारण जैन धर्म का यह सिद्धान्त स्याद्वाद, अनेकान्तवाद अथवा सप्तभंगी कहलाता है।

(6) **अहिंसा**—जैन धर्म परम अहिंसावादी है। उसके अनुसार जड़-चेतन सभी में आत्मा है। पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय तथा चलने फिरने वाले जीव के प्रति सम्पूर्ण व्यवहार ही अहिंसा है। अहिंसा की इस परिभाषा के अनुसार प्राणिमात्र के प्रति मन, वचन और कर्म से किया गया कोई भी असंयत आचरण हिंसा है। हिंसा के ही कारण उन्होंने यज्ञों को निरर्थक बताया और विरोध किया।

(7) **शुद्धाचरण पर बल**—महावीर ने बाहरी शुद्धि एवं कर्मकाण्ड को निरर्थक बताकर विशुद्ध आचरण पर बल दिया। उनके अनुसार जो सदाचार के गुणों से युक्त हैं, जो श्रेष्ठ संयम का पालन करता है, जिसने समस्त अपराधों को रोक लिया है और जिसने कर्म का नाश कर दिया है, वह विपुल, उत्तम है और मोक्ष को प्राप्त करता है। उन्होंने ब्राह्मणों की जन्म वर्ण-व्यवस्था को अस्वीकारते हुए कर्म के आधार पर उसकी व्याख्या की है। इस प्रकार जैन धर्म मनुष्य को कर्म के अधीन मानता है। मनुष्य स्वयं अपना भाग्यविधाता है।

(8) **पंच महाव्रत**—महावीर ने जैन भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए निम्न पाँच महाव्रतों का कठोरता से पालन करने की आज्ञा दी थी:

(i) **अहिंसा महाव्रत**—किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं होनी चाहिए, इसके लिए निम्नलिखित नियमों का पालन आवश्यक है:

(अ) पैरों से कीटाणुओं की हत्या न हो।

(आ) मधुर वाणी बोलो, जिससे किसी को शब्दाघात न पहुँचे।

(इ) भोजन द्वारा कीटाणुओं की हत्या न हो।

(ई) भिक्षु को अपनी समस्त सामग्री का उपयोग सावधानी से करना चाहिए जिससे कीट आदि की हिंसा न हो।

(उ) ऐसे स्थान पर मल-मूत्र त्याग करना चाहिए जहाँ पर ऐसे करने से कीटाणु की हत्या न हो।

(ii) **सत्य-भाषण महाव्रत**—सदैव सत्य एवं मधुर बोलना चाहिए। इसके लिए पाँच बातों का ध्यान रखना अपेक्षित है—

(अ) क्रोध आने पर मौन रहे।

(आ) बिना सोचे-विचारे न बोले।

(इ) लोभग्रस्त होने पर मौन रहना।

(ई) भयभीत होने पर भी असत्य न बोले।

(उ) हँसी-मजाक में भी असत्य न बोले।

(iii) **अस्तेय महाव्रत**—अनुमति बिना किसी अन्य की वस्तु न ग्रहण करे और न ग्रहण करने की इच्छा करें। इस विषय में भी पाँच बातें ध्यान में रखने योग्य हैं:

(अ) बिना आज्ञा के किसी के घर में प्रवेश न करे।

(आ) बिना आज्ञा के किसी के घर में न रहे।

(इ) बिना गुरु आज्ञा भोजन ग्रहण न करे।

(ई) बिना गृहस्वामी की आज्ञा के उसकी किसी भी वस्तु का उपयोग न करे।

(उ) यदि कोई भिक्षु किसी के घर में निवास कर भी रहा हो तो उसे गृहस्वामी की आज्ञा के बिना उस घर में नहीं रहना चाहिए।

(iv) **अपरिग्रह महाव्रत**—इसके अनुसार भिक्षुओं को किसी भी प्रकार का धन या वस्तु संग्रह नहीं करना चाहिए क्योंकि उससे आसक्ति उत्पन्न होती है। धन-धान्य और वस्त्रादि सभी परित्याज्य हैं। इसके अतिरिक्त इन्द्रियों के विभिन्न विषयों में भी अनासक्ति अपेक्षित है।

(v) **ब्रह्मचर्य महाव्रत**—ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन आवश्यक है। इस विषय में भी पाँच बातें ध्यान रखना चाहिए:

(अ) किसी स्त्री से बात न करे।

(आ) किसी स्त्री को न देखे।

(इ) स्त्री-सम्भोग का ध्यान भी न करे।

(ई) स्वल्पाहार करे।

(उ) जिस घर में कोई स्त्री रहती हो, वहाँ न रहे।

(9) **पंच अणुव्रत**—सभी लोग संसार त्याग कर भिक्षु जीवन-यापन नहीं कर सकते। इसलिए जैन गृहस्थ के लिए पाँच व्रत बताये गये हैं। यह सम्भव नहीं है कि भिक्षुओं की भाँति गृहस्थ अत्यन्त कठोर व्रतों का पालन नहीं कर सकते अतः उनके सरल रूप को पंच अणुव्रत के रूप में पालन करने को कहा गया है जो इस प्रकार हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य।

(10) **आत्मवाद**—महावीर आत्मा की अमरता में विश्वास करते थे। वे जड़ में भी जीव का अस्तित्व मानते थे। उनके अनुसार केवल मनुष्यों एवं पशु-पक्षियों में ही नहीं परन्तु पेड़-पौधे पत्थरों और जल में आत्मवाद भी है। उनके अनुसार प्रकृति और आत्मा केवल दो ही तत्व है।

(11) **अनीश्वरवाद**—जैन धर्म ईश्वर में विश्वास नहीं करता। वे ईश्वर को इस विश्व का सृष्टा और निर्माता नहीं मानते। जैन धर्म के अनुसार सृष्टि अनादि, अनन्त एवं गतिशील है।

(12) **व्रत, उपवास एवं तप**—महावीर का मत था कि मनुष्य के शरीर को जितना कलेश पहुँचाया जायेगा, उसकी आत्मा का उतना ही अधिक उत्कर्ष होगा। इस सिद्धान्त के आधार पर ही महावीर ने कठोर तप, नग्नता, व्रत, अनशन, आमरण अनशन, आदि का पालन आवश्यक बताया। जैन साधना में तपस्या के दो प्रकार हैं—बाह्य तपस्या, जिसके अन्तर्गत व्रत, उपवास, भिक्षाचर्या, रसों का परित्याग और शरीर की यातनाएँ आती हैं। दूसरे प्रकार की तपस्या में प्रायश्चित, विनय, सेवा, स्वास्थ्य, ध्यान और शरीर त्याग हैं।

बौद्ध धर्म की तुलना में जैन धर्म भारत में फल-फूल रहा है। उसके बहुसंख्यक अनुयायी हैं, उनके मन्दिर हैं, उनके धार्मिक पर्व एवं त्यौहार हैं। जैन धर्म ने भारतीय जीवन के दर्शन, भाषा, कला, आचार-व्यवहार, इतिहास, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक जीवन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है।

बौद्ध धर्म
[BUDDHA RELIGION]

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक का नाम सिद्धार्थ गौतम बुद्ध था। कौशल देश के उत्तर में कपिलवस्तु शाक्य क्षत्रियों का एक छोटा-सा गणराज्य था। यहाँ शुद्धोधन नामक राजा राज्य करते थे। इनके दो पत्नियाँ थीं—मायादेवी तथा प्रजापति गौतमी। मायादेवी के गर्भ से नेपाल की तराई में स्थित लुम्बिनी वन में ईसा पूर्व 623 में बालक सिद्धार्थ का जन्म शालवृक्ष के नीचे हुआ। आगे चलकर सिद्धार्थ महात्मा बुद्ध कहलाये। कालान्तर में यहीं सम्राट अशोक ने एक स्तम्भ स्थापित करवाया था जिस पर आज भी 'हिद बुधे जाते साक्यमुनिति हिद भगवा जातेति' लिखा है।

सिद्धार्थ का प्रारम्भिक जीवन बड़ी सुख-समृद्धि के बीच बीता। बाल्यावस्था से वे बहुधा वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित होकर मनन एवं चिन्तन किया करते थे। सिद्धार्थ के हृदय में सांसारिक जीवन के प्रति उदासीनता को देखकर पिता ने सोलह वर्ष की आयु में सिद्धार्थ का विवाह कर दिया। 12 वर्ष तक सिद्धार्थ ने गृहस्थ-जीवन व्यतीत किया। इसी बीच उन्हें पुत्र लाभ हुआ। परन्तु जन-कल्याण की कामना करने वाले उस करुण प्रचेता को गृहस्नेह अधिक समय तक बाँध न सका। एक रात्रि निद्रामग्न पुत्र राहुल और पत्नी यशोधरा की ओर अन्तिम बार निहारकर उन्होंने गृहत्याग दिया। यह घटना उनकी आयु के उन्तीसवें वर्ष में हुई थी। इसके बाद वे वस्त्र और आभूषण एक भिखारी को देकर तपस्वी वेश में ज्ञान की खोज में निकल पड़े।

सिद्धार्थ ज्ञान की खोज में पण्डितों, विद्वानों एवं साधुओं-संन्यासियों से मिले। साथ में कठोर तप भी किया। अन्ततः गौतम ने ज्ञान प्राप्ति का संकल्प किया। उसके बाद उरुवेला में एक वटवृक्ष के नीचे मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से समाधि लगायी। तत्पश्चात् वे सात दिन और सात रात अखण्ड समाधि में स्थित रहे। आठवें दिन वैशाख पूर्णिमा पर गौतम को ज्ञान प्राप्त हुआ और उनकी दीर्घकालीन साधना सफल हुई। इस घटना को बौद्ध साहित्य में 'सम्बोधि' कहा गया है।

अब सिद्धार्थ 'बुद्ध' (जाग्रत) और 'तथागत' कहे जाने लगे। बोधि-प्राप्ति से सम्बन्धित होने के कारण गया बोधगया नाम से विख्यात हुआ, जो आज बौद्धों का प्रमुख तीर्थस्थल है।

भगवान बुद्ध ने अपने ज्ञान को गुप्त नहीं रखा। उन्होंने पीड़ित मानवता के उद्धार के लिए अपने ज्ञान का प्रचार करने का संकल्प किया। उनका प्रथम धर्मचक्र का प्रवर्तन उरुवेला में हुआ। तत्पश्चात् वे काशी की ओर बढ़े क्योंकि काशी उस समय विद्या और ज्ञान का केन्द्र थी। सारनाथ पहुँचने पर उन्हें पाँचों पुराने ब्राह्मण साथी मिल गये, जिन्हें बुद्ध ने अपना उपदेश दिया, जिसे 'धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र' कहते हैं, जिसमें बौद्ध धर्म के मौलिक सिद्धान्त देखने को मिलते हैं।

आगे चलकर वाराणसी में अपने धर्म के प्रचार करने के लिए साठ शिष्यों का एक संघ बनाया और उनको उपदेश दिया कि "भिक्षुओं, बहुजन-हितार्थ, बहुजन-सुखार्थ, लोक पर अनुकम्पा करने के लिए, लोगों के हित के लिए, सुख के लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ, हे भिक्षुकों, आदि में कल्याण कर, मध्य में कल्याण कर, अन्त में कल्याण कर, इस धर्म का उपदेश करो।"

पैंतालीस वर्षों के अनवरत धर्मोपदेशों के बाद वे जराग्रस्त हो गये। अस्सी वर्ष की आयु में भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को बुलाकर उपदेश दिया और कहा कि "'अचिर काल में ही तथागत का परिनिर्वाण होगा। आज से तीन मास के बाद तथागत परिनिर्माण प्राप्त करेंगे।" वैशाली से बुद्ध भ्रमण करते हुए पावा आये। यहाँ भोजन करने के बाद उन्हें अतिसार रोग हो गया। रुग्णावस्था में ही वह पावा से कुशीनगर आये और वहीं पर सालवृक्ष के नीचे ई. पू. 486 में वैशाख पूर्णिमा के दिन उनका पार्थिव शरीर शान्त हो गया और उन्हें निर्वाण की उपलब्धि हुई।

बौद्ध धर्म की विशेषताएँ

बौद्ध धर्म के सिद्धान्त त्रिपिटक के मूल अंश में सन्निहित हैं। महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म की नैतिक व्याख्या की थी। इसी आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि बौद्ध धर्म वास्तव में धर्म नहीं वरन् आचार-शास्त्र है। परन्तु यह परिभाषा उन्हीं देशों की चिन्तन-प्रणाली से सम्बन्धित है जहाँ धर्म की परिभाषा अत्यन्त संकुचित अर्थ में की गयी है और जहाँ धर्म एकमात्र बाह्य कर्मकाण्डों एवं सत्ता-सम्बन्धी दार्शनिक विचारों अथवा सृष्टिनिर्माण-सम्बन्धी विवादों का समन्वित रूप समझा जाता है।

परन्तु भारत में धर्म को बड़े व्यापक रूप में ग्रहण किया गया था। उसके धर्म ने जीवन के समस्त कार्य-कलापों को अपनी शीतल छाया में ढक लिया था। फिर आखिर भारतीय दृष्टि में धर्म और आचार-शास्त्र में विभेद ही कैसे रहता ? अतः जो विद्वान बौद्ध धर्म को 'धर्म' न मानकर एकमात्र आचार-शास्त्र ही मानते हैं वे 'धर्म' की भ्रान्त धारण के ही वशीभूत हैं। वास्तव में विदेशी भाषाओं में कोई ऐसा शब्द ही नहीं है जो भारतीय धर्म की सम्पूर्ण विशेषताओं को अपनी परिभाषा में समेट ले।

मूल बौद्ध धर्म कोई पृथक् दर्शन भी नहीं है क्योंकि महात्मा बुद्ध ने सत्ता-सम्बन्धी किसी प्रश्न पर कभी अपना विचार ही प्रकट नहीं किया। वे इस प्रकार के प्रश्नों पर होने वाले वाद-विवादों को अनावश्यक समझते थे। अपने समय के तार्किकों के वाद-विवाद के पचड़े को देखकर महात्मा बुद्ध ने स्वयं अपने अनुयायियों से कहा था कि 'भिक्षुकों ! इसे कहते हैं मतों में जा पड़ना मतों की गहनता मतों का कान्तार, मतों का दिखावा, मतों का फन्दा तथा मतों का बन्धन। इन मतों के बन्धन में बँधा हुआ आदमी जिसने सद्धर्म को नहीं सुना वह जन्म, बुढ़ापे

तथा मृत्यु से मुक्त नहीं होता। शोक से, रोने-पीटने से, पीड़ित होने से, चिन्तित होने से भी वह मुक्त नहीं होता। मैं कहता हूँ कि वह दुःख से पार नहीं होता।' अतः आज जो कुछ भी बौद्ध दर्शन के नाम से प्रख्यात है वह महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् का विकास है। वह विशुद्ध मौलिक बौद्ध धर्म के अन्तर्गत नहीं आता।

इसी प्रकार बौद्ध धर्म अध्यात्म-शास्त्र (Metaphysics) भी नहीं है, क्योंकि महात्मा बुद्ध ने इस विषय में भी अपने विचार व्यक्त नहीं किये। सृष्टि का परम तत्व क्या है उसकी व्याख्या क्या है, सृष्टि का निर्माण किन तत्वों से होता है, उन तत्वों का धर्म क्या है, इत्यादि, ये ऐसे प्रश्न थे जिन्हें महात्मा बुद्ध मानवी उत्कर्ष के लिए व्यर्थ समझते थे। अतः उन्होंने कभी भी अपने अनुयायियों को इनका सूक्ष्म विवेचन करने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया।

महात्मा बुद्ध का धर्म अत्यन्त व्यावहारिक था। वह मानव के चरमोत्कर्ष का साधन था। वह इहलोक और परलोक की समग्र मान्यताओं का माप-दण्ड था। महात्मा बुद्ध ने स्वयं धर्म की आवश्यकता पर महत्ता को अनेकशः व्यक्त किया है। उनकी दृष्टि में धर्म ही मनुष्यों में श्रेष्ठ है, इस जन्म में भी और परजन्म में भी। वह जीवन का विषय है, मृत्यु का नहीं। अनेकानेक अन्य धर्मों के प्रतिकूल वह इसी जीवन में निर्वाण दिलाता है। वह नितान्त बुद्धिवादी है। उसमें कहीं भी अन्धविश्वासों अथवा अन्ध-परम्पराओं के लिए स्थान नहीं। महात्मा बुद्ध ने कालाम क्षत्रियों को सम्बोधित करते हुए कहा था कि 'कालामों ! न तुम श्रुत के कारण किसी बात को मानो, न तर्क के कारण, न नय-हेतु से, न वक्ता के आकार के विचार से, न अपने चिर-विचारित मत के अनुकूल होने से, न वक्ता के भव्य रूप होने से और न इसलिए कि 'श्रमण हमारा गुरु है' यह सोचकर। बल्कि कालामों ! जब तुम स्वयं ही जानो कि ये बातें अच्छी, अदोष, विज्ञों से अनिन्दित हैं, यह ग्रहण करने पर हित सुख के लिए होंगी, तो कालामों ! तुम उन्हें स्वीकार करो।' धर्म का इतना उदात्त आधार शायद ही किसी अन्य धर्म में पाया जाता हो। महात्मा बुद्ध धर्म और अधर्म का स्पष्टीकरण करते हुए महाप्रजापति गौतमी को जो उपदेश दिया था वह विचारणीय है—'हे गौतमी ! जिन धर्मों को तू जाने कि ये सराग के लिए हैं, विराग के लिए हैं, संयोग के लिए हैं, वियोग के लिए नहीं, संग्रह के लिए हैं, असंग्रह के लिए नहीं, इच्छाओं को बढ़ाने के लिए हैं, कम करने के लिए नहीं, अनध्यवसाय के लिए हैं, अध्यवसाय के लिए नहीं ..... तो तू गौतमी ! सोलही आने जानना कि वे न धर्म हैं, न विनय हैं, न शास्ता के शासन हैं, किन्तु इनसे विपरीत जो धर्म हैं, अर्थात् जो विराग के लिए हैं, अध्यवसाय के लिए हैं, उन्हें जानना कि ये सोलहों आने तथागत के धर्म हैं, विनय हैं, शासन हैं।' अतः इस उपदेश से स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध का धर्म किसी यान्त्रिक कर्मकाण्ड, सूक्ष्म दार्शनिकता अथवा पौराणिक अन्धमान्यता के ऊपर आधारित न था। उसका आधार तो विराग, असंग्रह, सन्तोष और अध्यवसाय जैसे उदात्त सिद्धान्त ही थे जो जनसाधारण के लिए भी सुबोध थे। तथागत का धर्म जनवादी था। वह किसी वर्ग-विशेष की सम्पत्ति न था। उसके द्वार सबके लिए खुले थे। वह 'एहिपस्सिको' था अर्थात् सबसे कहता है कि 'आओ और देखो'। यही इस धर्म का प्रत्यक्षवाद है। वह व्यक्ति-निरपेक्ष है और तथागत की भी अपेक्षा नहीं करता। इसी से उन्होंने कहा था कि 'तथागत चाहे उत्पन्न हों, चाहे न हो, धर्म-नियमता तो रहती ही है। वह आदि में कल्याणकारी है, मध्य में कल्याणकारी है और अन्त में कल्याणकारी है। जड़ मतवादों से परे वह विश्व धर्म था। वह बहुजनहितार्थ, बहुजनसुखार्थ, लोकानुकम्पा के लिए, सुख के लिए था। डॉक्टर सुनीतकुमार चटर्जी के शब्दों में वह 'आदर्श का

एक महासागर' है 'जिसमें पूर्वीय विचारधारा की भिन्न-भिन्न नदियाँ मिली हैं।' यह बौद्ध धर्म अपने मौलिक रूप में मानवता की उच्चतम प्रतिष्ठा का संस्थापक है। इसकी दृष्टि में मानव देव से भी ऊँचा है।

बौद्ध धर्म और उसके सिद्धान्त

बौद्ध धर्म एक व्यवहारवादी धर्म है। वह मानव के चरमोत्कर्ष का साधन है। बुद्ध की दृष्टि से इहलोक और परलोक में धर्म ही मनुष्य में श्रेष्ठ है। वह जीवन का विषय है, मृत्यु का नहीं। वह इसी जीवन में निर्वाण दिलाता है। वह नितान्त बुद्धिवादी है। बौद्ध धर्म अपने मौलिक रूप में अन्धविश्वासों और अन्धपरम्पराओं में विश्वास नहीं रखता, वह किसी यान्त्रिक कर्मकाण्ड, सूक्ष्म दार्शनिकता एवं पौराणिक अन्धमान्यता पर आधृत न था। बुद्ध प्रत्यक्षवाद में विश्वास करते थे। बौद्ध धर्म व्यक्ति-निरपेक्ष है तथा वह धर्म-नियमता में विश्वास रखता है। वह आदि में, मध्य में और अन्त में कल्याणकारी है। वह बहुजनहितार्थ, बहुजनसुखार्थ, लोकानुकम्पा के लिए था। वह मानवता की उच्चतम प्रतिष्ठा का संस्थापक था।

मूल सिद्धान्त

(1) **चार आर्य सत्य**—बौद्ध धर्म के मूलाधार चार आर्य सत्य हैं, जिनका निरूपण बुद्ध ने इस प्रकार किया है—

1. दुःख, 2. दुःख समुदाय, 3. दुःख निरोध, 4. दुःख निरोधगामी मार्ग।

(1) **दुःख**—सम्पूर्ण संसार दुःखमय है। जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, रुदन, अप्रिय का संयोग, प्रिय का वियोग तथा इच्छित वस्तु की अप्राप्ति आदि दुःख हैं।

(2) **दुःख-समुदाय (दुःख का कारण)**—सारे दुःख की जड़ तृष्णा (इच्छा) है। मनुष्य जीवनपर्यन्त तृष्णा से घिरा रहता है; यथा; काम तृष्णा, भाव तृष्णा, विभव तृष्णा। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, मानसिक वितर्क और विचारों से मनुष्य आसक्ति करने लगता है और यहीं तृष्णा का जन्म होता है। तृष्णायुक्त मनुष्य कभी भी दुःख से मुक्त नहीं हो सकता। तृष्णा के विनाश की मनुष्य के सम्मुख वास्तविक समस्या है।

(3) **दुःख निरोध**—दुःख तभी समाप्त होगा जब उसका मूल कारण (तृष्णा) समाप्त हो जाय। तृष्णा या वासना के नाश से जन्म-मरण और उसके साथ लगे हुए दुःखों का अन्त होता है। सम्पूर्ण तृष्णा-क्षय और दुःख रहित अवस्था का नाम निर्वाण है।

(4) **दुःख निरोध मार्ग**—अब प्रश्न यह उठता है कि इस मूल कारण (तृष्णा) का निवारण कैसे किया जाय। बुद्ध ने बताया कि तृष्णा के नाश के लिए मनुष्य को रूप, वेदना, संस्कार और विज्ञान का नाश करना पड़ेगा। यह नाश तभी सम्भव है जब बुद्ध द्वारा बताये अष्टांग मार्ग का अनुसरण किया जाय। यह मार्ग दोनों अतियों के बीच का है, अर्थात् यह न तो कठोर कायाक्लेश का उपदेश देता है और न भोग-विलास का। अस्तु, इसे मध्यम मार्ग कहा गया है। इस मार्ग के आठ नियम हैं।

(2) **अष्टांगिक मार्ग**—इसका समाहार प्रज्ञा, शील और समाधि में हो जाता है।

(1) **प्रज्ञा ज्ञान**—श्रद्धा एवं भावना से ओतप्रोत ज्ञान ही कल्याणकारक होता है। कोरा ज्ञान जड़ता का प्रतीक होता है। इसके अन्तर्गत दो नियम आते हैं—(i) **सम्यक् दृष्टि**—इससे

मनुष्य सत्य-असत्य, पाप-पुण्य, सदाचार-दुराचार में भेद कर लेता है। (ii) **सम्यक् संकल्प**—संकल्प, जिसमें हिंसा और कामना आदि न हो।

(2) **शील**—इसका सम्बन्ध शुद्धाचरण से है। इसमें निम्नलिखित तत्व सम्मिलित हैं—(i) **सम्यक् वाक्**—जो वाणी विनीत, मृदु और सत्य हो। (ii) **सम्यक् कर्म**—सत्कर्म। (iii) **सम्यक् आजीव**—जीवन-यापन की विशुद्ध प्रणाली।

(3) **समाधि**—चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं। इसमें निम्नलिखित तत्व हैं—(i) **सम्यक् व्यायाम**—धर्म और ज्ञान के साथ प्रयत्न।(ii) **सम्यक् स्मृति**—धर्म के प्रति सावधान एवं जागरूक रहना। (iii) **सम्यक् समाधि**—मन और मस्तिष्क की एकाग्रता।

(3) **कर्म**—बौद्ध धर्म में कर्म प्रधान है। बौद्ध धर्म में कर्म का वही स्थान है, जो आस्तिक धर्मों में ईश्वर का। बुद्ध के अनुसार 'प्राणी कर्मस्वक है, कर्मदायद है, और कर्म प्रतिशरण है।' संक्षेप में कर्म ही मनुष्य के सुख-दुःख, बन्धन मुक्ति, ऊँच-नीच का कारण है। इसी आधार पर बुद्ध ने ब्राह्मण धर्म की जन्मेज वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया। प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता है। जैसा वह कर्म करता है, वैसा ही भोगता है। यज्ञ, प्रार्थना, आराधना उसे बचा नहीं सकते।

(4) **पुनर्जन्म**—अपने कर्मों के फल से ही मनुष्य अच्छा या बुरा जन्म पाता है। जिस प्रकार जल-प्रवाह में एक के बाद दूसरी लहर आती है और वह सक्रम रहता है, उसमें कहीं व्यवधान नहीं पड़ता, उसी प्रकार एक जन्म की अन्तिम चेतना के विलय होते ही, दूसरे जन्म की प्रथम चेतना का उदय होता है। विलय और उदय के बीच कोई अन्तराल नहीं होता।

(5) **निर्वाण**—बौद्ध धर्म का एकमात्र लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करना है। सामान्यतः इसका अर्थ है आवागमन के चक्कर से विमुक्ति। बुद्ध के अनुसार निर्वाण से तात्पर्य है परम ज्ञान। यह तृष्णा, आसक्ति से मुक्त होने का नाम है, जिसे पूर्ण विशुद्धि कहा गया है। अष्टांग मार्ग का अनुसरण करने पर निर्वाण सम्भव है। अन्य धर्मों के अनुसार निर्वाण मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होता है, किन्तु बौद्ध धर्म में निर्वाण की प्राप्ति इसी जीवन में सम्भव है। बुद्ध ने अपने जीवन में निर्वाण प्राप्त किया था।

(6) **अनीश्वरवाद**—बुद्ध ने ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया है। नितान्त कर्मवादी होने के कारण उन्होंने मानव के कल्याण के लिए ईश्वर सम्बन्धी प्रश्नों को अनावश्यक माना है।

(7) **अनात्मवाद**—बुद्ध आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते थे। उनका कथन था कि मनुष्य का व्यक्तित्व और शरीर कई संस्कारों का योग है। उन्होंने कहा कि सम्पूर्ण अनुभूत जगत् में आत्मा नहीं है, क्योंकि यह जगत् नश्वर है। वास्तव में उन्होंने आत्मा के विषय पर विचार करना आवश्यक माना।

(8) **कारणवाद**—बौद्ध धर्म कारणवादी है। बौद्ध धर्म के अनुसार संसार में 'जो धर्म हैं वे हेतु से उत्पन्न होते हैं।' उनके हेतु और उसके निरोध को तथागत ने बताया है। एक बार बुद्ध ने आनन्द को उपदेश देते हुए सकारणा बतायी थी—'आनन्द' ! क्या जरा मरण सकारण है ? इसका उत्तर है—'है।' किस कारण से जरा मरण है ? इसका उत्तर है—'जन्म के कारण जरा मरण है।'

(9) **प्रतीत्य-समुत्पाद**—कारणवाद को लेकर ही बौद्ध धर्म में प्रतीत्य-समुत्पाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। बौद्ध धर्म किसी भी बात को बिना तर्क के अथवा हेतु के स्वीकार नहीं करता। प्रतीत्य (ऐसा होने पर) समुत्पाद (ऐसा होता है) का सिद्धान्त बौद्ध धर्म की आधारशिला है। बुद्ध ने प्रत्येक वस्तु का कारण और उस कारण को दूर करने का उपाय बताया है।

(10) **प्रयोजनवाद**—बुद्ध ने ईश्वर के विषय में विचार नहीं किया है। उनका विषय केवल मानव था। उसी को वे ऊँचा उठाना चाहते थे। वे व्यर्थ के दार्शनिक वाद-विवाद में कभी नहीं पड़े। वे ऐसे तर्क-वितर्क से बचते थे जो मनुष्य को आध्यात्मिक प्रगति में किसी प्रकार का योग नहीं देता। ईश्वर तथा आत्मा है अथवा नहीं ? इन विषयों पर वाद-विवाद करना वे निरर्थक मानते थे क्योंकि मनुष्य केवल मात्र अपने प्रयत्नों के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अस्तु बौद्ध धर्म नितान्त व्यावहारिक और प्रयोजनवादी है।

(11) **अन्तःशुद्धि**—बुद्ध ने मानव के उत्कर्ष के लिए सभी बाह्याडम्बरों को दूर कर केवल अन्तःशुद्धि पर बल दिया। उन्होंने बाहर यज्ञों एवं हवनों का विरोध कर भीतर की ज्योति जगाने का प्रयास किया है।

(12) **अहिंसा**—अहिंसा बुद्ध की व्यावहारिक एवं क्रियात्मक नैतिकता के सिद्धान्तों का एक अविच्छिन्न अंग है। वे प्राणिमात्र को आघात या कष्ट देने के विरुद्ध थे। वे प्राणिमात्र के प्रति अहिंसा, दया एवं प्रेम का उपदेश देते थे। किन्तु उन्होंने विशिष्ट परिस्थितियों में अपने अनुयायियों का माँस-भक्षण की अनुमति दे रखी थी। उनका कहना था कि यदि जीव-हत्या बौद्ध भिक्षु के भोजन के निमित्त नहीं की गयी हो, तो भिक्षु भिक्षा में प्राप्त सामिष भोजन कर सकता था।

बौद्ध धर्म अपनी जन्मभूमि से प्रायः लुप्तप्रायः हो गया है, फिर भी इस धर्म ने भारतीय जीवन, भारतीय संस्कृति, भारतीय राजनीतिक एकता, नैतिकता, व्यक्तिगत आचरण, छुआछूत, जाति-प्रथा का विरोध, अहिंसा, शिक्षा, राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में योगदान दिया है।

बौद्ध ग्रंथ में वर्णित शासन व्यवस्था एवं सुशासन की धारणा

बौद्ध ग्रंथों में जहाँ बुद्ध का चरित्र संकलित है वही इन ग्रंथों से उस काल की शासन व्यवस्थाओं का परिचय मिलता है। बौद्ध साहित्य में स्थान–स्थान पर सोलह महाजनपदों का उल्लेख है, जनपद पड़ौस के जनपदों को जीतकर शक्ति विस्तार द्वारा महाजनपद बन जाते थे। बौद्ध साहित्य में सोलह महाजनपदों की सूची अनेक स्थानों पर एक ही ढंग से प्रस्तुत की गई है। इन सोलह महाजनपदों के अतिरिक्त बौद्ध युग में अन्य बहुत से स्वतंत्र जनपद विद्यमान थे। सभी महाजनपदों में एक ही प्रकार की शासन पद्धति विद्यमान नहीं थी, इनमे से कुछ में राजतंत्र था कुछ में गणतंत्र था। गणतंत्र राज्यों में वंशक्रमानुगत राजा नहीं होता था। प्रजा स्वयं ही अपना शासन करती है।[22]

बौद्ध साहित्य में राजा का अधिकार मर्यादित माना गया है उसका कार्य केवल प्रजा का पालन तथा अपराधियों को दण्ड देना था। चूंकि राजाओं के ऊपर कोई संविधानिक प्रतिबंध नहीं थे इसलिए अत्याचारी राजाओं के विरूद्ध प्रजा विद्रोह कर सकती थी।

बौद्ध साहित्य में राजा के दस धर्मों अथवा कर्त्तव्यों का स्थान–स्थान पर उल्लेख किया गया है। ये हैं दान,शील, परित्याग, आर्जव, मार्दव, तप, आक्रोध, अहिंसा, शांति और अविरोधन। सभी धर्मों का पालन अपनी प्रजा के प्रति करना शासन का कर्तव्य माना जाता था।

राजतंत्र राज्यों में राजा के पुरोहित के अतिरिक्त अमात्यों का शासन में महत्वपूर्ण स्थान होता था। राजा के बाद उप राजा का स्थान था, जो राजा के परिवार का ही कोई सदस्य होता था।[23] गणराज्य का शासन केन्द्रीय सभा या समिति द्वारा होता था जिसके दो सदन होते थे। जिनमें राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक विषयों पर वाद–विवाद होता है। बौद्ध ग्रंथों में शासन में शासकों के प्रजा के प्रति कर्तव्यों को अत्यधिक रूप से स्पष्ट किया गया है ताकि प्रशासन में सुदृढ़ता लाई जा सके।

जैन साहित्य में वर्णित शासन व्यवस्था एवं सुशासन की धारणा

जैन धर्म अत्यंत प्राचीन है। वैदिक काल से ही इसकी स्थापना हो गई थी। जैन साहित्य में प्रमुख रूप से धर्म, दर्शन, कर्म, निर्वाण आदि विषयों का विशद वर्णन किया जाता है। इसमें कहा गया है कि राजा को सन्मार्ग का पालन करना चाहिए ताकि प्रजा पूरी तरह संतुष्ट हो सके उनके हितों की पूर्ति हो सके। इसके लिए जैन साहित्यों में दण्ड के विधान को आवश्यक माना है। दण्ड के अभाव में मत्स्य न्याय फैल जाता है। दण्ड के डर से मनुष्य कुमार्ग से बचते हैं। जो राजा उचित दण्ड की व्यवस्था करता है। उसे शासन में सफलता मिलती है। दण्ड [illegible] प्रावधाव के साथ–साथ राजा को अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए और [illegible] द्वारा अपने राज्य को सुदृढ़ बनाना चाहिए। जैन साहित्य में भी बौद्ध ग्रंथ[illegible] मिलती जुलती शासन व्यवस्थाओं का उल्लेख मिलता है।[24] यही नहीं ग्रंथों में एक[illegible] सुशासक के कर्तव्यों पर भली–भांति प्रकाश डाला गया है।